

हिंदी पत्रकारिता विकास तो हुआ मगर पतन भी कम नहीं हुआ



अपने इतिहास का स्मरण करना भला-भला सा लगता है। बात जब हिंदी पत्रकारिता की हो तो वह रोमांच से भर देता है। वह दिन और वह परिस्थिति कैसी होगी, जब पंडित जुगलकिशोर शुक्ल ने हिंदी अखबार आरंभ करने का दुस्साहस किया। तमाम संकटों के बाद भी आखिरी दम तक अखबार का प्रकाशन जारी रखा। अंततः साल भर के छोटे से समय में अखबार का प्रकाशन बंद करना पड़ा। हिंदी पत्रकारिता में मील के पत्थर के रूप में आज हम 'उदंत मार्तंड' का स्मरण करते हैं। हिंदी के अलावा अन्य कई भाषाओं में अखबारों का प्रकाशन हुआ, लेकिन 'उदंत मार्तंड' ने जो मुकाम बनाया, वह आज भी हमारे लिए आदर्श है। हालांकि जेम्स आगस्टक हिक्की के बंगाल गजट को भारत का पहला प्रकाशन कहा जाता है और पीड़ित सम्पादक के रूप में उनकी पहचान है। इन सबके बावजूद 'उदंत मार्तंड' का कोई सानी नहीं हुआ।

30 मई, 1826 को जब हम मुडकर देखते हैं तो लगता है कि साल 2019, दिनांक 30 मई का सफर तो हमने पूरा कर लिया लेकिन वो तेज और तेवर खो दिया है, जिसके बूते 'उदंत मार्तंड' आज भी हमारे लिए आदर्श है। इस सफर में प्रिंटिंग तकनीक का बहुविध विस्तार हुआ। घंटे का समय लगाकर एक पेज तैयार करने की विधि अब मिनटों में तैयार होने लगी। अखबार नयनाभिराम हो गए, लेकिन इसके साथ ही कंटेंट की कमी खलने लगी। 'तुमको हो जो पसंद वही बात करेंगे' की तर्ज पर लिखा जाने लगा। न विचार बचे, न समाचार। अखबार न होकर सूचनामात्र का कागज बन गया। यहीं पर मिशन खोकर प्रोफेशन और अब कमीशन का धंधा बनकर रह गया है। बात तल्लख है, लेकिन सच है। बदला लेने के बजाय बदलने की कोशिश करें तो भले ही 'उदंत मार्तंड' के सुनहरे दिन वापस न ला पाएं लेकिन 'आज' को तो नहीं भूल पाएंगे। जनसत्ता को इस क्रम में रख सकते हैं।



खैर, पराधीन भारत में अंग्रेजों की नाक में दम करने वाली हिंदी पत्रकारिता स्वाधीनता के बाद से बहुत बिगड़ी नहीं थी। नए भारत के निर्माण के समय पहरेदार की तरह हिंदी पत्रकारिता शासन और सत्ता को आगाह कर रही थी। सहिष्णुता का माहौल था। सत्ता और शासन अखबारों की खबरों को गंभीरता से लेते थे और एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव था। 'उदन्त मार्तण्ड' अंग्रेजों की ठुकाई कर रहा था और आम भारतीय को जगाने का कार्य भी कर रहा था। लगभग ऐसा ही चरित्र स्वाधीन भारत में कायम था। सीमित संसाधनों में अखबारों का प्रकाशन सीमित संख्या में था और पत्रकारिता में प्रवेश करने वाले लोग आम लोग नहीं हुआ करते थे। एक किस्म की दिव्य शक्ति उनमें थी। वे सामाजिक सरोकार से संबद्ध थे।

कहते हैं विस्तार के साथ विनाश भी दस्तक देती है। विनाश न सही, कुछ गड़बड़ी का संदेश तो बदलते समय की पत्रकारिता दे गई। साल 1975 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए सबसे काला समय था। तानाशाह के रूप में तब की सत्ता और शासन ने सारे अधिकार छीन लिए। जैसे-तैसे ये दिन बीते लेकिन इस थोड़े से समय में हिंदी पत्रकारिता का चाल, चेहरा और चरित्र बदलने लगा था। जो सत्ता और शासन के पैरोकार हो गए, वे चांदी काटने लगे लेकिन जो पहरेदार की भूमिका में रहे, वे घायल होते रहे।

एक समय भाजपा के रसूखदार चेहरा रहे लालकृष्ण आडवाणी ने कहा था, 'आपातकाल में पत्रकारिता को झुकने के लिए कहा गया तो वे रेंगने लगे।' उनकी बात सौ फीसदी सच नहीं थी लेकिन सौ फीसदी गलत भी नहीं। इंदौर से प्रकाशित बाबूलाभचंद्र छजलानी के अखबार नईदुनिया ने विरोधस्वरूप सम्पादकीय पृष्ठ कोरा छोड़ दिया। ऐसे और भी उदाहरण मिल जाएंगे, लेकिन सच यही है कि तब से झुकते-झुकते अब रेंगने लगे हैं। हिंदी पत्रकारिता के लिए यही संक्रमणकाल था। यही वह समय है जब

हिंदी पत्रकारिता के मंच पर पीत पत्रकारिता ने अपनी जगह बनायी। और शायद यही वक्त था जब समाज का पत्रकारिता से आहिस्ता आहिस्ता भरोसा उठने लगा। आज की हालत में तो पत्रकारिता के जो हाल हैं, सो हैं। अब यह कहना मुश्किल है कि कौन सा अखबार, किस सत्ता और शासन का पैरोकार बन गया है या बन जाएगा।

हिंदी पत्रकारिता ने 'उदंत मार्तंड' के समय जो सपने देखे थे, वो भले ही चूर-चूर ना हुए हों लेकिन टूटे जरूर हैं। जख्मी जरूर हुए हैं। हिंदी पत्रकारिता के जख्मी होने का कारण एक बड़ा कारण इस सफर में सम्पादक संस्था का विलोपित हो जाना है। सम्पादक के स्थान पर मैनेजर का पदारूढ़ हो जाना हिंदी पत्रकारिता का सबसे बड़ा संकट है। संवाद और पाठन तो जैसे बीते जमाने की बात हो गई है। हम इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि प्रकाशनों की संख्या सैकड़ों में बढ़ी है, लेकिन कंटेंट को देखें तो हम शर्मसार हो जाते हैं। अखबारों का समाज पर प्रभाव इस कदर कम हुआ है कि औसतन 360 दिनों के अखबारों में एकाध बार किसी खबर का कोई प्रभाव होता है। खबर पर प्रतिक्रिया आती है अथवा शासन-सत्ता संज्ञान में लेकर कार्यवाही करता है तो अखबार 'खबर का इम्पेक्ट' की मुहर लगाकर छापता है। इस तरह अखबार खुद इस बात का हामी भरता है कि बाकी के बचे दिनों में छपी खबरों का कोई प्रभाव नहीं है।

ऐसा क्यों होता है? इस बात पर भी गौर करने की जरूरत है। चूंकि सम्पादक की कुर्सी पर मैनेजर विराजमान है तो वह इस इम्पेक्ट खबर को भी बेचना चाहता है। उसके लिए खबर एक प्रोडक्ट है, जैसा कि अखबार एक प्रोडक्ट है। अब अखबारों के पाठक नहीं होते हैं। ग्राहक होते हैं। ग्राहकों को लुभाने-ललचाने के लिए बाल्टी और मग दिए जाते हैं। एक नया चलन 'नो निगेटिव खबर' का चलन पड़ा है। निगेटिव से ही तो खबर बनती है और जब सबकुछ अच्छा है तो काहे के लिए अखबारों का प्रकाशन। हिंदी पत्रकारिता की दुर्दशा मैनेजरो ने की है। भाषा की तमाम वर्जनाओं को उन्होंने ध्वस्त करने की कसम खा रखी है। हिंदी अथवा अंग्रेजी के स्थान पर हिंग्लिश का उपयोग-प्रयोग हो रहा है। तिस पर तुरा यह कि 'जो दिखता है, वह बिकता है'। अर्थात् एक बार अखबार को बाजार का प्रोडक्ट बनाता दिखता है।

हिंदी पत्रकारिता की दुर्दशा में टेलिविजन त्रकारिता की भूमिका भी कम नहीं है। जब टेलीविजन का प्रसारण आरंभ हुआ तो लगा कि अखबारों की दुनिया सिमट जाएगी लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। उल्टे दोनों एक-दूसरे के पर्याय हो गए। बल्कि अखबार भी टेलिविजन बनने की कोशिश में लग गए। टेलिविजन की कोई भाषा नहीं होती है तो अखबारों ने अपनी भाषा की भेंट बाजार की मांग के अनुरूप चढ़ा दी। जो सनसनी टेलिविजन के पर्दे पर मचती है। हंगामा होता है, वह दिखाने की कोशिश अखबारों ने की लेकिन दोनों माध्यमों की टेक्नॉलाजी अलग अलग होने के कारण अखबारों के लिए यह संभव नहीं हो पाया। प्रस्तुतिकरण, छपाई और तस्वीरों में हिंदी पत्रकारिता टेलिविजन का स्वरूप धारण करने की कोशिश करने लगी। कल तक पठनीय अखबार, आज का दर्शनीय अखबार हो गया। अखबारों की 'स्टाइलशीट' कहीं धूल खा रही होगी। नयी पीढ़ी को तो यह भी पता नहीं होगा कि स्टाइलशीट क्या है और इसका महत्व क्या है?

हिंदी पत्रकारिता को स्वाहा करने में पत्रकारिता शिक्षा के संस्थानों की भूमिका भी बड़ी रही है। दादा

माखनलाल चतुर्वेदी, पत्रकारिता शिक्षण संस्थाओं के पक्षधर थे। किन्तु वर्तमान में भोपाल से दिल्ली तक संचालित पत्रकारिता संस्थाएं केवल किताबी ज्ञान तक सिमट कर रह गई हैं। व्यावहारिक ज्ञान और संवाद कला तो गुमनामी में है। ज्यादातर पत्रकारिता के शिक्षकों के पास व्यावहारिक अनुभव नहीं है। नेट परीक्षा पास करो, पीएचडी करो और शिक्षक बन जाओ। निश्चित रूप से पत्रकारिता की शिक्षा भी प्रोफेशनल्स कोर्स है और इस लिहाज से यह उत्कृष्टता मांगती है लेकिन उत्कृष्टता के स्थान पर पत्रकारिता शिक्षा प्रयोगशाला बनकर रह गई है। इस प्रयोगशाला से पत्रकार नहीं, मीडियाकर्मी निकलते हैं और एक कर्मचारी से आप क्या उम्मीद रखेंगे? कल्पना कीजिए कि पंडित जुगलकिशोर शुक्ल, राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, तिलक, पराडकरजी जैसे विद्वत्जन मीडियाकर्मी होते तो क्या आज हम 'उदंत मार्तंड' का स्मरण कर रहे होते? शायद नहीं लेकिन मेरा मानना है कि समय अभी गुजरा नहीं है। पत्रकारिता के पुरोधा और पुरखों को जागना होगा और पत्रकारिता की ऐसी नई पौध को तैयार करना होगा जो राजेन्द्र माथुर, प्रभाष जोशी, मायाराम सुरजन, लाभचंद्र छजलानी के मार्ग पर चलने के लिए स्वयं को तैयार कर सकें। और कुछ नहीं होगा तो फिर अगले साल 30 मई को स्मरण करेंगे कि आज ही के दिन हिंदी का पहला साप्ताहिक पत्र 'उदंत मार्तंड' का प्रकाशन आरंभ हुआ था।

साभार- <https://www.samachar4media.com> से